

प्रवचन-१३५, श्लोक-१८३-१८५, गाथा-११६-११७, सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२,
दिनांक २६-०५-१९८०

नियमसार ११६ गाथा का अर्थ चलता है। फिर से लेते हैं ११६।

टीका : यहाँ, 'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है' ऐसा कहा है। मूल तो पूरा सिद्धान्त संक्षिप्त तो ऐसा है कि जितना स्व आश्रय उतना धर्म और जितना पराश्रय, उतना अधर्म। यह बहुत संक्षिप्त है। आहाहा! वह और पर से खस, स्व में वस, वह और... यहाँ तो स्वचैतन्यस्वरूप जो है, ज्ञानानन्द अनन्त गुण का भण्डार, उसका जितना आश्रय, उतना धर्म। और उससे जितना परद्रव्य का आश्रय, उतना संसार, उतना अधर्म। इस प्रकार संक्षिप्त बात है। आहाहा! जिसे कल्याण करना है, उसे स्व का आश्रय लेना पड़ेगा। दूसरी सब लाख बातें हों। आहाहा! चैतन्यमूर्ति, चैतन्यस्वभावी...

यहाँ कहते हैं न? 'शुद्ध ज्ञान के स्वीकारवाले को प्रायश्चित्त है'... अर्थात् धर्म। पाप के छेदनवाला धर्म। आहाहा! शुद्ध ज्ञान का स्वीकार अर्थात् वह आश्रय। वह ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है, उसका स्वीकार और आश्रय, वही प्रायश्चित्त अर्थात् धर्म है। आहाहा! ऐसा कहा है। भगवान ने ऐसा कहा है। उत्कृष्ट ऐसा जो विशिष्ट धर्म... उत्कृष्ट ऐसा खास जो ज्ञानधर्म। वह वास्तव में परम बोध है... आहाहा! ऐसा इसका अर्थ है। वह वास्तव में परम बोध है। आहाहा!

बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ज्ञान कहो, बोध कहो या चित्त अर्थात् ज्ञान। चिद्ज्ञान। तीनों का एक ही अर्थ है। ऐसा होने से... ऐसा होने से। इस कारण से। उसी परमधर्मी जीव को... आहाहा! जिसने शुद्ध स्वस्वभाव का स्वीकार किया है, ऐसे परमधर्मी जीव को... आहाहा! प्रायः चित्त है... अर्थात् कि पर्याय में अकेला चित्त—ज्ञान ही है। ज्ञान, आनन्द, शान्ति इत्यादि की पर्याय में वह है। आहाहा! प्रायश्चित्त, वह तो पर्याय है। शुद्ध ज्ञान, वह तो त्रिकाल है और स्वीकार होता है, वह प्रायश्चित्त है, वह तो पर्याय है।

यहाँ प्रायश्चित्त अर्थात् प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान)... वह वर्तमान पर्याय है। आहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप देह के रजकणों से, देह के परमाणुओं से अत्यन्त भिन्न चैतन्य

भगवान अन्दर विराजमान है, उसका ज्ञान, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! प्रकृष्टरूप से चित्त (-ज्ञान) है। वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! यहाँ तो पर में दौड़ादौड़ (करे और) उसमें धर्म मानना। जो परमसंयमी... जिसका आत्मा अपने स्व में लीन है। चैतन्य पूर्णानन्द का नाथ है, उसका स्वीकार करके उसमें लीन है, ऐसे परमसंयमी ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है,... ऐसे चित्त को अर्थात् एकाग्रता। ज्ञान और बोध जो स्वरूप है, उसकी एकाग्रता का वह ध्यान करता है, उसे धारण करता है। आहाहा! उसे वास्तव में निश्चय-प्रायश्चित्त है। उसे अन्तर में निर्मलानन्द की दशा (प्रगट होती है)। जिसे बोध और ऐसा तत्त्व जो है, उसका जिसने आश्रय लिया, उसका स्वीकार किया, उसकी पर्याय में प्रायश्चित्त है, अर्थात् संसार के छेदन की दशा है। आहाहा! उसमें बाहर का क्या करना, वह तो कुछ आया नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि बाहर निकला। स्व के आश्रय से जहाँ बाहर आया, वह कोई भी... आहाहा! भले उपदेश में या लिखने में (आया), वह विकल्प है। पराश्रित उतना संसार है। आहाहा! नियमसार में तो कहा है न? शुभयोग, वह घोर संसार है। आहाहा!

जो परमसंयमी ऐसे चित्त को... ऐसे चित्त को अर्थात् शुद्ध प्रकृष्टरूप से ज्ञान, आनन्द ऐसे चित्त को नित्य धारण करता है अर्थात् कि आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु में नित्य रमता है, वह प्रायश्चित्त है। आहाहा! व्यवहारवाले को निश्चय लगता है, तथापि कहेंगे निश्चय और व्यवहार दोनों।

[भावार्थ:] जीव धर्मी है... अर्थात् वस्तु है। भगवान धर्मी है, उसके ज्ञान-दर्शन, आनन्द के धर्म को धरनेवाला है। आहाहा! और ज्ञानादिक उसके धर्म हैं। ज्ञान-दर्शन-आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता, ये उसके गुण-धर्म हैं। धर्म का धर्मी यह और इस धर्मी का यह धर्म। आहाहा! परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव जीव का उत्कृष्ट विशेषधर्म है। परम चित्त अथवा परम ज्ञानस्वभाव ऐसा जीव का उत्कृष्ट विशेषधर्म है। धर्म अर्थात् धार रखा हुआ। इसलिए स्वभाव-अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है... स्वभाव अपेक्षा से जीवद्रव्य को प्रायःचित्त है। अर्थात् प्रकृष्टरूप से ज्ञान है। वस्तु वह है और उसका आश्रय करे तो ज्ञान प्रायःचित्त है।

जो परम संयमी ऐसे चित्त की... अर्थात् ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है। आहाहा!

दृश्य में शरीर, देखने में शरीर, देखने में इन्द्रियाँ... आहाहा! उन्हें छोड़कर देखनेवाले को देखना, जाननेवाले को जानना, वही ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करता है। आहाहा! तथा उसमें लीन रहता है, उसे निश्चयप्रायश्चित्त है। आहाहा! प्रायश्चित्त अर्थात् धर्म। उसे धर्म है। उसे मोक्ष का मार्ग है। उसे संसार के पन्थ का अन्त आने की स्थिति है। आहाहा!

श्लोक-१८३

[अब ११६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

(शालिनी)

यः शुद्धात्मज्ञानसम्भावनात्मा प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य ।
निर्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुण-प्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

(वीरछन्द)

आत्मज्ञान की सत्य भावनावन्त उन्हें प्रायश्चित्त है ।
पापक्षपक उस मुनिवर को गुण प्राप्ति हेतु नित वंदन है ॥१८३॥

[श्लोकार्थः] इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावनावन्त है, उसे प्रायश्चित्त है ही। जिसने पापसमूह को खिरा दिया है ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ ॥१८३॥

श्लोक -१८३ पर प्रवचन

[अब ११६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं:]

यः शुद्धात्मज्ञानसम्भावनात्मा प्रायश्चित्तमत्र चास्त्येव तस्य ।
निर्धूतांहः संहतिं तं मुनीन्द्रं वन्दे नित्यं तद्गुण-प्राप्तयेऽहम् ॥१८३॥

टीकाकार पद्मप्रभमलधारि मुनि कहते हैं कि इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावनावन्त है, ... यहाँ भावना आयी। शुद्धात्मा जो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु है, उसकी सम्यक्—सच्ची भावनावन्त है। आहाहा! अर्थात् धार रखा है कि यह शुद्धात्मा है, ऐसा नहीं। आहाहा! उस शुद्धात्मज्ञान की सम्यक्... सच्ची भावना है, एकाग्रता है। आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान में जो एकाग्रता का आनन्द है... आहाहा! उसे यहाँ धर्म और प्रायश्चित्त कहते हैं। आहाहा! यह लोगों को एकान्त लगता है। व्यवहार कुछ आता नहीं। परन्तु सब व्यवहार पराश्रय है और व्यवहार पराश्रित है तो बन्ध का ही कारण है। चाहे तो तीन लोक के नाथ की भक्ति हो या उनकी वाणी सुनते हो परन्तु पराश्रित है, वह सब राग है। आहाहा! स्व-आश्रय—स्वावलम्बन। पर का अवलम्बन छोड़कर स्व अवलम्बन करना, वह निश्चय धर्म है। प्रायश्चित्त कहो या धर्म कहो। आहाहा!

इस लोक में जो (मुनीन्द्र) शुद्धात्मज्ञान की सम्यक् भावना... अकेला आत्मा नहीं लिया, शुद्धात्मज्ञान, शुद्धात्मस्वरूप की जो सम्यक् भावनावन्त है, उसे प्रायश्चित्त है ही। जिसने पापसमूह को खिरा दिया है... आहाहा! मुनि की दशा तो अलौकिक है। आहाहा! जिसने पापसमूह को खिरा दिया है... यह व्यवहार से कथन है। अन्दर स्वरूप में रमते हैं, इसलिए उदय नहीं आता, टल जाता है। ऐसे उस मुनीन्द्र को... मुनि स्वयं कहते हैं कि ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु... देखो! आया इसमें...। वे कहते थे न कि देखो! यहाँ भगवान के गुण की लब्धि के लिये वन्दन करते हैं। परन्तु यह तो विकल्प है। विकल्प से कथन है। आहाहा! ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु... भावना में यह है परन्तु है विकल्प। उन्हें नित्य वन्दन करता हूँ। नित्य वन्दन करता हूँ। आहाहा! इसका अर्थ (यह कि) मैं मेरे स्वरूप में ही एकाग्र होता हूँ। आहाहा!

जिसने पापसमूह को खिरा दिया है, ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु... उनके ही आनन्द, शान्ति, वीतरागता ऐसे गुण हैं, उनकी प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ। आहाहा! नित्य वन्दन करता हूँ, इसका क्या अर्थ हुआ? कि मेरे स्वरूप में नित्य एकाग्रता कायम है। ऐसा यह कहते हैं। बाहर में नित्य वन्दन करने जाए तो बाहर में विकल्प जाए। नित्य बाहर दूसरे मुनि को वन्दन का तो विकल्प है। आहाहा! यहाँ तो कहते

हैं कि मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य... नित्य मेरा स्वभाव भगवान आत्मा, उसमें मैं नित्य वर्तता हूँ, उसे वन्दन करता हूँ, उसका स्वीकार करके उसमें स्थिर होता हूँ, उसका नाम यहाँ प्रायश्चित्त है। आहाहा! उसमें व्रत और अपवास करना, यह कब आयेगा? भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, मन्दिर बनाना।

मुमुक्षु : वह तो बन गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन गये। अभी बनता है न? अफ्रीका में बड़ा मन्दिर बनता है। साठ लाख रुपये इकट्ठे किये हैं। तथापि वहाँ यह की यह बात की थी। बात कहीं दूसरी है नहीं। यहाँ तो यह है परन्तु वहाँ पढ़नेवाले हैं। एक झबेरचन्दभाई है। छह-सात भाई करोड़पति हैं। बहुत करोड़पति हैं, दूसरे एक बालजीभाई? बेलजीभाई। बेलजीभाई हैं। साधारण नौकरी है परन्तु फिर भी बहुत प्रेम और बहुत रस। वाँचन करते हैं तो लोगों को बहुत पसन्द आता है। इसलिए अफ्रीका में यहाँ जैसा चले, वैसा वहाँ चलता है। ऐसा नहीं कि अफ्रीका अनार्य देश है इसलिए... २५-३० वर्ष से चलता है। आहाहा!

ऐसे उस मुनीन्द्र को मैं उसके गुणों की प्राप्ति हेतु नित्य वन्दन करता हूँ। ११७।

मुमुक्षु : एक मुनि दूसरे मुनि को वन्दन करते हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार की बातें। एक मुनि को दूसरे मुनि को वन्दन करना, इसका अर्थ कि मैं मेरे स्वरूप में लीन होता हूँ। वे मुनीन्द्र और मैं मुनीन्द्र। मुनीन्द्र स्वयं जिन्होंने आत्मा को मौनरूप से राग से और विकल्प से भी मौनरूप से जिन्होंने अन्दर साधा है। आहाहा! उसमें जो वन्दन-एकाग्र हो, वही वन्दन है। आहाहा! एक गुरु को वन्दन है, दूसरे मुनि का। आहाहा! क्योंकि वे दूसरे मुनि भी उनके स्वभाव के गुण का आदर करके रमते हैं। मैं भी स्वभाव के गुण का आदर करके रमता हूँ। इसलिए मैं तो उनके गुण की प्राप्ति अर्थात् यहाँ जो गुण है, उनकी प्राप्ति के लिये नित्य वन्दन करता हूँ। नित्य। एक समय भी खाली नहीं। इसका अर्थ क्या हुआ? पर मैं जाए तो विकल्प है। आहाहा!

मेरा नाथ नित्य प्रभु चैतन्य अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द की प्रभुता से भरपूर भगवान गुण का सागर, स्वभाव की शक्ति का भण्डार है। उसमें मेरा एकाग्रता का झुकाव

है। आहाहा! वही गुण की प्राप्ति का कारण है। आहाहा! सम्प्रदाय में ऐसी बात मिलती नहीं; इसलिए फिर लोगों को ऐसा लगता है कि यह कुछ नया धर्म निकाला इन्होंने? नया धर्म (नहीं है)।

मुमुक्षु : यह तो आचार्य स्वयं कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नया धर्म कहाँ है? बापू! यह तो अनादि की बात है। शास्त्र बोलते हैं कौन यह? आहाहा! पढ़ा नहीं, सुनना नहीं और सुनकर के दरकार करना नहीं। फिर निश्चय... निश्चय... निश्चयाभास करके व्यवहार-व्यवहार करो, उससे धीरे-धीरे होगा। इसमें भी अभी आयेगा। उस ओर आयेगा। निश्चय और व्यवहारस्वरूप, परम तपश्चरण आता है न? उसका अर्थ करेंगे।

गाथा-११७

किं बहुणा भणिण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
 पायच्छित्तं जाणह अणेय-कम्माण खय-हेऊ ॥११७॥
 किं बहुना भणितेन तु वरतपश्चरणं महर्षीणां सर्वम् ।
 प्रायश्चित्तं जानीह्यनेक-कर्मणां क्षय-हेतुः ॥११७॥

इह हि परमतपश्चरणनिरतपरमजिनयोगीश्वराणां निश्चयप्रायश्चित्तम् । एवं समस्ता-चरणानां परमाचरणमित्युक्तम् । बहुभिरसत्प्रलापैरलमलम् । पुनः सर्वं निश्चयव्यवहारात्मकपरमतप-श्चरणात्मकं परमजिनयोगिनामासन्सारप्रतिबद्धद्रव्यभावकर्मणां निरवशेषेण विनाश-कारणं शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्तमिति हे शिष्य त्वं जानीहि ।

बहु कथन से क्या जो अनेकों कर्म-क्षय का हेतु है ।
 उत्तम तपश्चर्या ऋषि की सर्व प्रायश्चित्त है ॥११७॥

अन्वयार्थ : [बहुना] बहुत [भणितेन तु] कहने से [किम्] क्या ? [अनेककर्मणाम्] अनेक कर्मों के [क्षयहेतुः] क्षय का हेतु ऐसा जो [महर्षीणाम्] महर्षियों का [वरतपश्चरणम्] उत्तम तपश्चरण [सर्वम्] वह सब [प्रायश्चित्तं जानीहि] प्रायश्चित्त जान ।

टीका : यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चयप्रायश्चित्त है; इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित्त समस्त आचरणों में परम आचरण है ऐसा कहा है ।

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ, बस होओ । निश्चयव्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बँधे हुए द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का कारण वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा, हे शिष्य! तू जान ।

गाथा - ११७ पर प्रवचन

११७ (गाथा) ।

किं बहुणा भणिण्ण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं ।
 पायच्छित्तं जाणह अणेय-कम्माण खय-हेऊ ॥११७॥
 बहु कथन से क्या जो अनेकों कर्म-क्षय का हेतु है ।
 उत्तम तपश्चर्या ऋषि की सर्व प्रायश्चित्त है ॥११७॥

ऋषिराज की तपस्या अर्थात् तपन । गुण को तपावे - प्रगट करे । गुण की पर्याय को प्रगट करे, वह कर्म के नाश का हेतु है । वह तपस्या है । ज्ञान बिना अपवास करे, समकित बिना करे, वह सब लंघन है, लंघन । आहाहा ! अर्थ आयेगा ।

टीका : यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण की व्याख्या है न ? अकेला तपस्या शब्द नहीं है । परम तपश्चरण अर्थात् कि आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित, चारित्र में भी उग्र पुरुषार्थ । प्रतपन इति तपः जैसे सोना गेरू से ओपित-शोभित होता है, वैसे प्रभु पूर्ण पुरुषार्थ से चारित्रसहित को पूर्ण पुरुषार्थ से ओपता है, शोभता है, गुण की पर्याय बढ़ती है, उसे यहाँ तपस्या कहा जाता है । आहाहा !

मुमुक्षु : आप तो एक ही बात कहते हो कि आत्मा के सन्मुख हो, इसका नाम धर्म ।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात तो एक ही कही । पहले तो कही । स्व-आश्रय धर्म और पर-आश्रय अधर्म । वीतराग का पूरा महासिद्धान्त । यह अनन्त तीर्थकरों का कथन । जो आत्मा वस्तु निर्मलानन्द शुद्ध है, उसका जितना आश्रय और अवलम्बन, उतना धर्म और उसे छोड़कर जितना परद्रव्य का आश्रय हो... आहाहा ! चाहे तो अक्षर लिखता है तो भी वह परावलम्बी बन्ध का कारण है । आहाहा ! टीका करते हुए भी बन्ध का ही कारण है । यह विकल्प है । आहाहा !

मुमुक्षु : टीका का अर्थ करना और सुनाना वह ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना, वह विकल्प है । आहाहा ! राग है, बापू ! मार्ग अलग । मार्ग तो समझकर अन्दर में समा जाना । बाहर में चमक-दमक में कहीं पड़ना नहीं । बाहर

की चमक की बात में कहीं नहीं पड़ना। आहाहा! कहो, देवीलालजी!

भगवान परमानन्दमूर्ति, बस उसका स्वीकार करके अनुभव करके उसमें स्थिर होना, स्व-आश्रय में रहना, वह धर्म है। जितना स्व-आश्रय छोड़कर पराश्रय (में जाएगा) उतना बन्धन और आवरण है। ऐसी तीन काल के तीर्थकरों की एक आवाज है। आहाहा! बहुत कठिन बात, भाई! यह सब करते हैं न, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करे, व्रत करे, तप करे, सवेरे दन्त-मंजन करके णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं (बोले), चरण लगे, कोई सूर्य को वन्दन करे। सूर्य में भगवान की प्रतिमा है। सूर्य में भगवान है न? आहाहा! भरत चक्रवर्ती भी पैर लगते थे (वन्दन करते थे)।

मुमुक्षु : यहाँ कहाँ दिखता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो दिखता नहीं, उन्हें दिखता है। उन्हें दिखता है, उतना पुण्य अन्दर लाये हैं। अपने महल में... देव ने महल बनाये। वहाँ खड़े-खड़े सूर्य के अन्दर देखे। आहाहा! यह चर्चा अभी आयी है कि ऐसी बातें तुम क्या मानते हो? ऐसी आँख का इतना तेज होता है और इतना... यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! उसमें भरत अर्थात् भगवान के पुत्र और समकिति, ज्ञानी, चरमशरीरी। पहले ही ऋषभदेव भगवान की शुरुआत में भरत हुए। आहाहा! एक तो चक्रवर्ती और एक समकिति। उनकी आँख का तेज ऐसा था। यों भी इन्द्रिय का विषय आता है न? कि इतना देख सकते हैं, ऐसा आता है। आँख इतना देख सकती है। इतना विषय उन्हें खिल गया है। उसमें क्या? वह कोई नयी नहीं है। आहाहा! ऐसे सूर्य हो, वहाँ अन्दर नजर पड़े। नजर की निर्मलता... आहाहा!

जिनकी निर्मलता नजर के निधान में, आत्मा में पड़ी है। चक्रवर्ती जैसे पुरुष को उनकी नजर बाहर में वहाँ जाए, वह कुछ विशेषता नहीं है। आहाहा! अभी इसकी चर्चा चली है कि ऐसे आँख को देखे, ऐसा अमुक करे। भाई! तुम्हारा काम नहीं। यह तो अलौकिक अगम्य बातें हैं। अगम्य बातों का मेल क्या है, यह कठिन है। भाई! बाहर से तुम्हारी शैली से उसका तर्क करके खड़े रहोगे, वह नहीं चलेगा। आहाहा! वीतराग की शैली से देखो! आहाहा! यह कहा न?

यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण। आनन्दस्वरूप भगवान। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में उत्कृष्ट स्वाद। आहाहा! प्रभु आत्मा तो अतीन्द्रिय

आनन्द का दल है न, प्रभु! तू उस अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। राग तो नहीं परन्तु अल्पज्ञपना नहीं। ऐसा जो परम अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु, उसमें जो दृष्टि करके लीन है, वह परम तपश्चरण में लीन कहलाता है। आहाहा! कहो, यह पकड़ में आता है या नहीं? ऐसी सूक्ष्म बात है। यह कलकत्ता में कहीं मिले ऐसा नहीं है। वहाँ तो धूल मिलती है, धूल।

मुमुक्षु : वह भी भाग्य में होवे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य होवे तो। पुण्य होवे तो पैसा मिलता है। आहाहा! भाई ने तो ऐसा कहा है न, हुकमचन्दजी (ने कहा है) कि पूर्व का पुण्य हो तो मिलता है परन्तु वह पैसा स्वयं पाप है क्योंकि परिग्रह है। चौदह अभ्यन्तर परिग्रह, दस बाह्य परिग्रह। दस परिग्रह में वह पैसा है तो जैसे चौबीस प्रकार का परिग्रह पाप है, तो वह पैसा, पाप है। आहाहा! मिला पुण्य से परन्तु है पाप। आहाहा! परचीज है न? वह स्व कहाँ है? आहाहा! सम्प्रदाय के आग्रही हों और पहले-पहले सुने उसे तो ऐसा लगे कि अरे! यह क्या ऐसा कहते हैं? यह क्या कहते हैं?

यहाँ ऐसा कहा है कि परम तपश्चरण में लीन... परम तपश्चरण। 'तपन्ते इति तपः।' आत्मा आनन्द गुण से तपे अर्थात् शोभे, बड़े... आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय में वृद्धि प्राप्त हो, उसे यहाँ तपस्या कहा जाता है। आहाहा! **परम जिनयोगीश्वरों को...** ऐसे। **परम तपश्चरण में लीन परम जिनयोगीश्वरों को निश्चयप्रायश्चित्त है;...** उन्हें वास्तव में संसार के छेदन का भाव उत्पन्न हुआ है। आहाहा! वह तो ऐसा कहे कि भाई! पाँच-पचास हजार यहाँ खर्च करो, लाख यहाँ खर्च करो। जाओ, तुम्हारे ऐसा होगा। तख्ती लगाओ कि इसने इतना पैसा दिया है। नाम तो रहे। आत्मा कहाँ रहा वहाँ? आहाहा! लक्ष्मीचन्दभाई ने वहाँ प्रतिमा तो पधरायी। लक्ष्मीचन्द नरम व्यक्ति है। करोड़पति है, ७०-८० लाख होंगे। साढ़े पाँच लाख रुपये देकर एक प्रतिमा पधरायी है। मूल... मूल क्या कहलाता है वह? मूलनायक। मूलनायक की प्रतिमा साढ़े पाँच लाख। बहुत लम्बी बात नहीं। वह कहे लाख, वह कहे दो लाख, वह कहे ढाई लाख, पाँच लाख, साढ़े पाँच लाख। ऐसा संक्षिप्त... साढ़े पाँच लाख की एक ही प्रतिमा, हों! पूरा मन्दिर अलग, दूसरी प्रतिमाएँ अलग। आहाहा!

मुमुक्षु : आप पुण्य की महिमा तो करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य का फल आया है, उसने यह प्रयोग किया, इतनी बात करनी है। उसका शुभभाव है। ऐसे परदेश में भी साढ़े पाँच लाख देकर, इतना शुभभाव है न? तो वह शुभभाव कहीं धर्म नहीं है। यह तो स्पष्ट बात है। वह तो पराश्रय है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस प्रकार निश्चयप्रायश्चित्त समस्त आचरणों में... यह लो, ठीक। परम आचरण है, ऐसा कहा है। निश्चयप्रायश्चित्त... आहाहा! वर्तमान पर्याय का स्वामी द्रव्य, उसे जिसने पकड़ा है। आहाहा! वर्तमान निर्मल पर्याय से जिसने पर्यायवान द्रव्य को पकड़ा है, उसमें स्थिर हुआ है, वह निश्चयप्रायश्चित्त है। समस्त आचरणों में सब लाख-करोड़ आचरण करता हो परन्तु उसमें परम आचरण यह है, ऐसा तीर्थकरों ने कहा है। है? ऐसा कहा है। आहाहा!

बहुत असत् प्रलापों से बस होओ,... कहते हैं... आहाहा! क्या कहें? असत् यद्वा-तद्वा बातें चलें। स्व का आश्रय छोड़कर दूसरी बातें चलें, ऐसी असत् कल्पना से क्या करें? आहाहा! बस होओ। असत् कल्पना से बस होओ... बस होओ... अलम्। निश्चय-व्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक... दो लाये हैं। व्यवहार से उपवासादि हैं, निश्चय अन्दर में स्थिरता है। वह निमित्तमात्र लिया और यह उपादान, शुद्ध उपादान लिया। निमित्त का ज्ञान साथ में कराया। निश्चय और व्यवहारस्वरूप। निश्चय स्वाश्रय। व्यवहार में पराश्रय का जो विकल्प आया वह। उसमें परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को... आहाहा! वास्तव में तो यह निश्चय-व्यवहार का अर्थात् विकल्परहित, निर्विकल्पदशा में वह लीन है।

उन परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बँधे हुए... आहाहा! द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का कारण... आहाहा! कुछ बाकी रखे बिना नाश का कारण है। कर्म का कुछ भी अंश बाकी रखे बिना, आत्मा के आनन्द की उग्रदशा में रमते हुए। आहाहा! एकदम मुक्ति (प्राप्त करे) और कर्म का एक अंश भी न रहे। निरवशेष—कुछ भी बाकी न रहे। उसके विनाश का कारण... ऐसे कर्म के नाश का कारण। वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है ऐसा, हे शिष्य! तू जान। मुनि स्वयं कहते हैं, लो! हे शिष्य! तू जान। यह जान... यह जान... ऐसा कहते हैं। हे शिष्य! सब छोड़कर यह जान। ऐसा

कहते हैं। सब व्यवहार-व्यवहार की बातें, व्यवहार से कुछ साधन कहा हो, उन सब बातों में से यह जान। करनेयोग्य यह है और यही मोक्ष का कारण है। आहाहा! हे शिष्य! तू जान। क्या जान? कि संसार के नाश का कारण शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है। पहले दोनों इकट्ठे लिये थे।

निश्चयव्यवहारस्वरूप परम-तपश्चरणात्मक ऐसा जो परम जिनयोगियों को अनादि संसार से बंधे हुए द्रव्यभावकर्मों के निरवशेष विनाश का... बाकी रखे बिना विनाश का कारण वह सब शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्त है... आहाहा! व्यवहार को वहाँ रखा था, उसे यहाँ निकाल दिया। व्यवहार का ज्ञान कराया। अकेला निश्चयप्रायश्चित्त है। ऐसा, हे शिष्य! तू जान। आहाहा! निवृत्ति कहाँ है? और निवृत्ति मिले तो सम्प्रदाय में पकड़े गये हों। ऐसी बात कान में पड़े तो कहे, नहीं, यह तो निश्चय की बात करते हैं, यह तो एकान्त बात है। एकान्त है... एकान्त है... जाओ! है तो एकान्त। नय ही एक अंश को स्वीकार करता है। शुद्धनिश्चय का विषय तो एकान्त शुद्ध परमात्मा ही है। आहाहा! अनेकान्त में भी एकान्त सम्यक् यह एक नय है। आहाहा! स्वरूप के अन्दर... भले तुझे दिखता न हो, परन्तु नहीं दिखता—ऐसा अन्दर कौन है वह? नहीं दिखता—ऐसा कौन कहता है? कौन जानता है? मैं नहीं दिखता—ऐसा कौन जानता है? आहाहा! वह स्वयं जाननेवाला कहता है कि मैं मुझे नहीं जानता। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप भगवान आनन्द का नाथ सागर है वह तो। हे शिष्य! निश्चयप्रायश्चित्त का यह स्वरूप है, ऐसा जान। कोई दोष लगा और गुरु के पास प्रायश्चित्त लिया, उसे कुछ निश्चयप्रायश्चित्त न जान। वह व्यवहार बीच में आता है। उसे छोड़ना... छोड़ना...। आहाहा! ऐसी बात है। सम्प्रदाय में सुनने को मिलती नहीं और यह मिले तो कहे यह जैनधर्म ऐसा होगा? अपने सम्प्रदाय में ऐसा कहीं सुनायी नहीं देता। स्थानकवासी में कहते हैं सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, यह आता है। कन्दमूल नहीं खाना, छह परवी ब्रह्मचर्य पालना। मन्दिरमार्गी में भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, यात्रा करो, यह आता है। यहाँ कहते हैं कि वह सब राग और क्रिया संसार है। आहा! कठिन बात है।

श्लोक-१८४

[अब इस ११७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:]

(द्रुतविलम्बित)

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकला-परिगोचरं सहजतत्त्व-मघक्षय-कारणम् ॥१८४॥

(वीरछन्द)

अनशनादि तपरूप शुद्ध चैतन्यरूप को जो जानें ।
सहजज्ञान की कलागम्य जो तत्त्व पाप क्षय हेतु उन्हें ॥१८४॥

[श्लोकार्थः] अनशनादितपश्चरणात्मक (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा यह सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को 'सहजज्ञानकलापरिगोचर सहजतत्त्व' अघक्षय का कारण है ॥१८४॥

श्लोक -१८४ पर प्रवचन

[अब इस ११७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं:]

अनशनादितपश्चरणात्मकं सहजशुद्धिदात्मविदामिदम् ।
सहजबोधकला-परिगोचरं सहजतत्त्व-मघक्षय-कारणम् ॥१८४॥

[श्लोकार्थः] आहाहा! अनशनादितपश्चरणात्मक (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त...) अनशनादितपश्चरण शब्द लिया है । व्यवहार का अनशनादि

१. सहजज्ञानकलापरिगोचर=सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य ।

२. अघ=अशुद्धि; दोष; पाप। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में अघ हैं।)

शब्द लिया है परन्तु उसका अर्थ, आहाहा! (अर्थात् स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित)... आहाहा! उग्र स्वरूपरूप परिणमित। अपना भगवान अन्दर आनन्द का सागर है, उसमें उग्ररूप से आनन्द में आया हुआ। आहाहा! उस आनन्द के वेदन में उसे ढेर पड़ते हों। आहाहा! मुनि को पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का तो पुंज पड़ता है। आहाहा! क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द का तो सागर है, उसमें जो लिपट गया और एकाग्र हुआ, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद आता है। आहाहा!

वह अनशनादितपश्चरण... अर्थात् (स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त...) ऐसा। अकेला अनशन अर्थात् आहार का त्याग, ऐसा नहीं। आहाहा! (स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा... आहाहा! आत्मा के स्वभाव की पूर्णता को दृष्टि में लेकर स्वरूप की परिणति बढ़ाते जाते हैं। आहाहा! उस स्वरूपपरिणति से प्रतापवन्त परिणमित हुआ, यह अनशन आदि में से भी निकाला हुआ यह। अनशन में रूका नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! (स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) आहाहा! भगवान चैतन्यस्वरूप, उसके उग्र पुरुषार्थ से स्वरूपपरिणति से परिणमित, ऐसा यह सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ऐसा यह स्वाभाविक शुद्ध चैतन्यस्वरूप। आहाहा! यहाँ तो अकेले प्रभु के गुण हैं। चैतन्य के ही गुण गाये हैं। आहाहा! जो महा गुण का भण्डार, जिसमें अनन्त गुण ठसाठस भरे, उसकी तो बातें नहीं और बातें यह बाहर की दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, छह परबी कन्दमूल न खाना, ब्रह्मचर्य पालन करना... वहाँ हो गया धर्म। आहाहा! भाई! ऐसा तो अनन्त बार किया है।

भगवान को अन्तर्दृष्टि में लेकर... आहाहा! उसमें स्थिर होकर उग्र परिणति से परिणमित... आहाहा! ऐसा यह सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप... देखा? ऐसा यह स्वाभाविक शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को... आहाहा! सहजज्ञानकलापरिगोचर... सहजज्ञानकलापरिगोचर=सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य। अन्तर ज्ञान की सम्यक् निर्मल, निर्मल ज्ञान की कला द्वारा ज्ञात होने योग्य ऐसा जो भगवान चैतन्य, वह कोई निमित्त से ज्ञात नहीं होता, राग से ज्ञात नहीं होता, व्यवहार से ज्ञात नहीं

होता। आहाहा! (स्वरूपप्रतपनरूप से परिणमित, प्रतापवन्त अर्थात् उग्र स्वरूपपरिणति से परिणमित) ऐसा यह सहज... स्वाभाविक वस्तु, उसके शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को जाननेवालों को सहजज्ञानकलापरिगोचर... आहाहा! सहज ज्ञान की कला द्वारा सर्व प्रकार से ज्ञात होने योग्य। बाकी किसी प्रकार से वह ज्ञात होनेयोग्य नहीं है। वह ज्ञान की कला और आनन्द की कला द्वारा ज्ञात होनेयोग्य है। बाकी किसी प्रकार से वह भगवान ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! टीका भी कितनी सरस की है! आहाहा! शब्द काम नहीं करते, इतने आत्मा के गुणगान हैं। आहाहा!

सहज-शुद्ध-चैतन्यस्वरूप को (वस्तु को) जाननेवालों को सहजज्ञानकला-परिगोचर... स्वाभाविक निर्मल ज्ञान से ज्ञात होनेयोग्य सहज तत्त्व प्रभु... आहाहा! वह अघक्षय का कारण है। अघ शब्द से पुण्य और पाप दोनों। नीचे अर्थ है। अघ=अशुद्धि; दोष; पाप। (पाप तथा पुण्य दोनों वास्तव में अघ हैं।) आहाहा! शुभभाव—दया, दान, व्रत, भक्ति का शुभभाव, वह पाप है। आहाहा! योगीन्द्रदेव ने तो कहा है कि पुण्य को पाप अनुभवी कहते हैं। 'पाप पाप को तो सब कहे, परन्तु अनुभवी पुण्य को पाप कहे।' यहाँ तो मुनि स्वयं कहते हैं, देखो! ऐसा यह अघक्षय। अघ अर्थात् पुण्य और पाप, उनके क्षय का कारण... आहाहा! स्वरूप में लीनता, वह पुण्य और पाप के क्षय का कारण है। आहाहा! कितने ही नये लोगों ने तो सुना नहीं होगा। यह तो क्या बात है ऐसी!

मुमुक्षु : महाविदेह की बात करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ की बात है। यह इसकी बात है। महाविदेह की नहीं और दूसरे की नहीं। इस आत्मा की (बात है)। आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा है। अन्दर सब भगवान है। आहाहा! विशुद्ध भावना में तो कहा न, मन-वचन-काया से तीन काल-तीन लोक के जीव रहित होकर सब शुद्ध होओ, सब परमात्मा होओ। द्रव्यसंग्रह में तो कहा है परन्तु सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में तीन जगह कहा है। एक बन्ध अधिकार के अन्त में, एक सर्वविशुद्ध के अन्त में—दो, वहाँ और एक परमात्मप्रकाश के अन्त में। सब भगवान होओ। प्रभु! तुम पूर्णानन्द के नाथ हो। जैसा अमृतस्वरूप तुम हो, उस प्रकार होओ। इन जहरीले पुण्य-पाप के भाव को छोड़ दे। आहाहा! कलश-टीका में इस शुभभाव को काला नाग कहा है। शुभभाव। अर..र..र..! भगवान की भक्ति, भगवान का स्मरण,

भगवान के गुण गाना, कहते हैं कि वह शुभभाव जहर है। भगवान अमृतस्वरूप है, उससे उल्टा जहर है। आहाहा! यह बात जँचना... सुनने को मिलती नहीं, उसमें जँचे कब? आहाहा!

सहजतत्त्व अघक्षय का कारण है। क्षय का कारण। वापस भाषा देखी? पंचम काल के मुनि हैं न? सुननेवाले को (अघ) क्षय का कारण कहते हैं। नाश का कारण, मूल में से नाश का कारण है। काल है, वह आत्मा को कहाँ लागू पड़ता है? आत्मा तो भगवान विराजता है। चाहे जैसे काल में हो। पूर्णानन्द से विराजमान है। उसमें हीनता और न्यूनता और विकृति नहीं आती। उसे कोई काल या बाहर की प्रतिकूलता उसको लागू नहीं पड़ती। आहाहा! ऐसे पूर्ण स्वरूप को... आहाहा! सहजतत्त्व को। सहजतत्त्व कहा न? पर्याय भी नहीं।

सहजतत्त्व अघक्षय का कारण है। फिर पर्याय हुई, वह निर्मल है परन्तु पर्याय में सहजतत्त्व को जान। त्रिकाली तत्त्व जो भगवान ध्रुव है, नित्यानन्द प्रभु है, (उसे जान)। आहाहा! चौरासी लाख के अनन्त अवतार किये, परन्तु उसमें से कुछ हीन हुआ नहीं। उसकी जो समृद्धि अन्दर है। अनन्त निगोद के भव किये, अनन्त-अनन्त कषाय के भव किये, अनन्त तो अरबोंपति के भव किये परन्तु उस चीज़ में कोई विकृति, पर की छाया कुछ भी स्पर्श नहीं हुई। आहाहा! ऐसा वह भगवान स्वरूप अन्दर है। आहाहा! अब यहाँ खाने बैठे, उसमें दाल एक रस न हुई हो तो ढिंचणियों (पुराने जमाने में भोजन करते समय पैर के नीचे रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा) उड़े। किसने किया ऐसा? अब उसे ऐसा आत्मा कहना। आहाहा! प्रभु! तू आत्मा है। आज समझ, कल समझ, बाद में समझ परन्तु यह समझे बिना जन्म का अन्त आनेवाला नहीं है। 'लाख बात की बात...' आता है न? 'लाख बात की बात निश्चय उर लाओ, छोड़ सकल जग द्वन्द्व फन्द निज आतमध्याओ।' छहढाला में आता है। आहाहा! १८४ हुआ।

श्लोक-१८५

(शालिनी)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम् ।
कर्म-व्रात-ध्वान्त-सद्बोध-तेजो-लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ॥१८५॥

(वीरछन्द)

जो स्वद्रव्य का धर्मध्यान अरु शुक्लध्यान मय चिन्तन है ।
कर्मजन्य तम नाश हेतु जो सम्यग्ज्ञान तेज-सम है ॥
निर्विकार निज महिमा में ही रहता है जो लीन सदा ।
ऐसा प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता ॥१८५॥

[श्लोकार्थः] जो (प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का *धर्म और शुक्लरूप चिन्तन है, जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है—ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है ॥१८५॥

श्लोक - १८५ पर प्रवचन

१८५ (श्लोक)

प्रायश्चित्तं ह्युत्तमानामिदं स्यात् स्वद्रव्येऽस्मिन् चिन्तनं धर्मशुक्लम् ।
कर्म-व्रात-ध्वान्त-सद्बोध-तेजो-लीनं स्वस्मिन्निर्विकारे महिम्नि ॥१८५॥

[श्लोकार्थः] जो (प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का धर्म... नीचे धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है। लो! देखो! आया। स्वद्रव्य का चिन्तन, वह प्रायश्चित्त है। चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। आहाहा! लाख बात की बात, करोड़ बात की बात, अनन्त बात की बात—स्वरूप में एकाग्रता, वह ध्यान, वह धर्म। आहाहा!

* धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है।

(प्रायश्चित्त) इस स्वद्रव्य का धर्म... अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप जो स्वद्रव्यचिन्तन, वह प्रायश्चित्त है।... धर्म और शुक्लरूप... स्वद्रव्य का धर्म और शुक्लरूप चिन्तन... धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप भावना—एकाग्रता। आहाहा! जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए... आहाहा! यहाँ तो धर्म धर्मध्यान कहा। वे कहे, धर्मध्यान शुभभाव को कहते हैं। आहाहा! धर्मध्यान में शुद्धता थोड़ी है, शुक्लध्यान में अधिक है। बाकी दोनों शुद्ध हैं। धर्मध्यान शुद्ध है, वह मोक्षमार्ग के अधिकार में है न! चिन्तन करता है, वह शुभधर्मध्यान। शुभ परिणामरूपी धर्मध्यान। वह धर्म-बर्म नहीं। आहाहा!

स्वद्रव्य का धर्म और शुक्लरूप चिन्तन... चिन्तन अर्थात् एकाग्रता। चिन्तन अर्थात् उसका विकल्प करना और चिन्ता करना, वह नहीं। आहाहा! जो कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए... आहाहा! सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है... आहाहा! सूर्य का प्रकाश होता है, अन्धकार का नाश होता है, इसी प्रकार भगवान आत्मा सम्यग्ज्ञान का तेज है। जितना तेज प्रगट हो, उतना राग का नाश हो जाता है। आहाहा! कर्मसमूह के अन्धकार को नष्ट करने के लिए सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है... आहाहा! मानो शब्द कम पड़ते हैं। निर्विकार—वास्तव में... आहाहा! जो अपनी निर्विकार महिमा... निर्विकारी वस्तु है, उसकी महिमा, उसकी महत्ता लक्ष्य में आकर लीन होता है। उससे बड़ा जगत में कोई नहीं है। परमेश्वर भी इसका बड़ा, इसका बड़ा नहीं। आहाहा! ऐसा सम्यक् रूपी तेज तथा जो अपनी निर्विकार महिमा में लीन है... देखा? ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है। आहाहा!

जघन्य को नहीं होता। जघन्य के दो अर्थ होते हैं। एक जघन्य अर्थात् छोटा और एक जघन्य अर्थात् निन्दायोग्य। जघन्य के दो अर्थ होते हैं। एक जघन्य अर्थात् छोटा और एक जघन्य अर्थात् निन्दा के योग्य। यह जघन्य अर्थात् निन्दायोग्य है, छोड़नेयोग्य है। आहाहा! ऐसा यह प्रायश्चित्त वास्तव में उत्तम पुरुषों को होता है। आहाहा! यह उत्तम पुरुष, जिसे आत्मा की लगन लगी है और आत्मा में जो जम जाता है। आहाहा! बाहर की कोई चिन्ता उसे है नहीं। ऐसे महापुरुषों को ऐसा प्रायश्चित्त और ऐसी स्थिति होती है।

विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)